जैनधर्म में अहिंसा की अवधारणा : एक विश्लेषण

अहिंसा का अर्थ-विस्तार एवं उसके विविध-आयाम

विश्व के लगभग सभी धर्मों एवं धर्मग्रन्थों में किसी न किसी रूप में अहिंसा की अवधारणा पायी जाती है। अहिंसा के सिद्धान्त की इस सार्वभौम स्वीकृति के बावजूद भी अहिंसा के अर्थ को लेकर उन सबमें एकरूपता नहीं है। हिंसा और अहिंसा के बीच खीची गई भेद-रेखा सभी में अलग-अलग है। कहीं पशुवध को ही नहीं, नर-बलि को भी हिंसा की कोटि में नहीं माना गया है, तो कहीं वानस्पतिक हिंसा अर्थात् पेड़-पौधों को पीड़ा देना भी हिंसा माना जाता है। चाहे अहिंसा की अवधारणा उन सबमें समानरूप से उपस्थित हो किन्तु अहिंसक-चेतना का विकास उन सबमें सामानरूप से नहीं हुआ है। क्या मूसा के Thou shalt not kill आदेश का वही अर्थ है जो महावीर की **'सव्वे सत्ता न हंतव्वा'** की शिक्षा है? यद्यपि हमें यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसा के अर्थविकास की यह यात्रा किसी कालक्रम में न होकर मानव जाति की सामाजिक चेतना, मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो व्यक्ति या समाज जीवन के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना उसने अहिंसा के प्रत्यय को उतना ही अधिक व्यापक अर्थ प्रदान किया। अहिंसा के अर्थ का यह विस्तार भी तीनों रूपों में हुआ है—एक ओर अहिंसा के अर्थ को व्यापकता दी गई, तो दूसरी ओर अहिंसा का विचार अधिक गहन होता चला गया। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारम्भ होकर षट्जीवनिकाय की हिंसा के निषेध तक इसने अर्थविस्तार पाया है तो दूसरी ओर प्राणवियोजन के बाह्य रूप से द्वेष, दुर्भावना और असावधानी (प्रमाद) के आन्तरिक रूप तक, इसने गहराईयों में प्रवेश किया है। पुन: अहिंसा ने 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक अर्थ से लेकर दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के विधायक अर्थ तक भी अपनी यात्रा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा का अर्थविकास त्रिआयामी (थ्री डाईमेन्शनल) है। अत: जब भी हम अहिंसा की अवधारणा लेकर कोई चर्चा करना चाहते हैं तो हमें उसके सभी पहलुओं की ओर ध्यान देना होगा।

जैनागमों के संदर्भ में अहिंसा के अर्थ की व्याप्ति को लेकर कोई चर्चा करने के पूर्व हमें यह देख लेना होगा कि अहिंसा की इस अवधारणा ने कहाँ कितना अर्थ पाया है?

यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में अहिंसा का अर्थविस्तार

मूसा ने धार्मिक जीवन के लिए जो दस आदेश प्रसारित किये थे उनमें एक है 'तुम हत्या मत करो', किन्तु इस आदेश का अर्थ यहूदी समाज के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपनी जातीय भाई की हिंसा नहीं करने से अधिक नहीं रहा। धर्म के नाम पर तो हम स्वयं पिता को अपने पुत्र की बलि देते हुए देखते हैं। इस्लाम ने चाहे अल्लाह को 'रहिमानुर्रहोम'—करुणाशील कहकर सम्बोधित किया हो, और चाहे यह भी मान लिया हो कि सभी जीवधारियों को जीवन उतना ही प्रिय है, जितना तुम्हें अपना है, किन्तु उसमें अल्लाह की इस करुणा का अर्थ स्वधर्मियों तक ही सीमित रहा। इतर मनुष्यों के प्रति इस्लाम आज तक संवेदनशील नहीं बन सका। पुन: यहूदी और इस्लाम दोनों ही धर्मों में धर्म के नाम पर पशुबलि को सामान्य रूप से आज तक स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार इन धर्मों में मनुष्य की संवेदनशीलता स्वजाति और स्वधर्मी अर्थात् अपनों से अधिक अर्थविस्तार नहीं पा सकी है। इस संवेदनशीलता का अधिक विकास हमें ईसाई धर्म में दिखाई देता है। ईसा शत्रु के प्रति भी करुणाशील होने की बात कहते हैं। वे अहिंसा, करुणा और सेवा के क्षेत्र में अपने और पराये, स्वधर्मी और विधर्मी, शत्रु और मित्र के भेद से ऊपर उठ जाते हैं। इस प्रकार उनकी करुणा सम्पूर्ण मानवता के प्रति बरसी है। यह बात अलग है कि मध्ययुग में ईसाईयों ने धर्म के नाम पर खून की होली खेली हो और ईश्वर-पुत्र के आदेशों की अवहेलना की हो किन्तु ऐसा तो हम सभी करते हैं। धर्म के नाम पर पशु-बलि की स्वीकृति भी ईसाई धर्म में नहीं देखी जाती है। इस प्रकार उसमें अहिंसा की अवधारणा अधिक व्यापक बनी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सेवा तथा सहयोग के मूल्यों के माध्यम से अहिंसा को एक विधायक-दिशा भी प्रदान की है। फिर भी सामान्य जीवन में पशुवध और मांसाहार के निषेध की बात वहाँ नहीं उठाई गई है। अत: उसकी अहिंसा की अवधारणा मानवता तक ही सीमित मानी जा सकती है, वह भी समस्त प्राणी जगत् की पीड़ा के प्रति संवेदनशील नहीं बन सका।

भारतीय-चिन्तन में अहिंसा का अर्थ-विस्तार

चाहे वेदों में **'पुमांसं परिपातु विश्वत:'** (ऋग्वेद, ६.७५.१४) के रूप में एक दूसरे की सुरक्षा की बात कही गई हो अथवा **'मित्रास्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'** (यजुर्वेद, ३६.१८) के रूप में सर्व प्राणियों के प्रति मित्र-भाव की कामना की गई हो किंतु वेदों की यह अहिंसक चेतना मानवजाति तक ही सीमित रही है। मात्र इतना ही नहीं, वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें शत्रु-वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई हैं। यज्ञों में पशुबलि स्वीकृत रही, वेद-विहित हिंसा को हिंसा की कोटि में नहीं माना गया। इस प्रकार उनमें धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा को समर्थन ही दिया गया। वेदों में अहिंसा की अवधारणा का अर्थविस्तार उतना ही है जितना की यहूदी और इस्लाम धर्म में। अहिंसक चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है श्रमण परम्परा में। इसका मुख्य कारण यह था कि गृहस्थ जीवन में रहकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर पाना सम्भव नहीं था। जीवनयापन अर्थात् आहार, सुरक्षा आदि के लिए हिंसा आवश्यक तो है ही, अत: उन सभी धर्म परम्पराओं में जो मूलत: निवृत्तिपरक या संन्यासमार्गीय नहीं थीं, अहिंसा को उतना अर्थविस्तार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त नहीं हो सका जितना श्रमण धारा या संन्यासमार्गीय परम्परा में सम्भव था। यद्यपि श्रमण परम्पराओं के द्वारा हिंसापरक यज्ञ-यागों की आलोचना और मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक परम्परा में भी एक ओर वेदों के पशु-हिंसापरक पदों का अर्थ अहिंसक रीति से किया जाने लगा। महाभारत के शान्तिपर्व में राजा वसु का आख्यान (अध्याय ३३७-३३८) इसका प्रमाण है। तो दूसरी ओर धार्मिक जीवन के लिए कर्मकाण्ड को अनुपयुक्त मानकर औपनिषदिक धारा के रूप में ज्ञानमार्ग का और भागवत धर्म के रूप में भक्तिमार्ग का विकास हुआ। इसमें अहिंसा का अर्थविस्तार सम्पूर्ण प्राणीजगत् अर्थात् त्रस चीजों की हिंसा के निषेध तक हुआ है। वैदिक परम्परा में संन्यासी को कन्दमूल एवं फल का उपभोग करने की स्वतन्त्रता है, इस प्रकार वहाँ वानस्पतिक हिंसा का विचार उपस्थित नहीं है। फिर भी यह तो सत्य है कि अहिंसक चेतना को सर्वाधिक विकसित करने का श्रेय श्रमण परम्पराओं को ही है। भारत में ई०पू० ६ ठीं शताब्दी का जो भी इतिवृत्त हमें प्राप्त होता है उससे ऐसा लगता है कि उस युग में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने में श्रमण सम्प्रदायों में होड़ लगी हुई थी। कम से कम हिंसा ही श्रामण्य-जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिमान था। सूत्रकृतांग में आर्द्रक कुमार की विभिन्न मत वाले श्रमणों से जो चर्चा है उसमें मूल प्रश्न यही है कि कौन सबसे अधिक अहिंसक है (देखिये, सूत्रकृतांग २/६)। त्रस प्राणियों (पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि) की हिंसा तो हिंसा थी ही किन्तु वानस्पतिक और सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा को भी हिंसा माना जाने लगा। मात्र इतना ही नहीं, मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित और अनुमोदित के प्रकारभेदों से नवकोटिपूर्ण अहिंसा का विचार प्रविष्ट हुआ, अर्थात् मन, वचन और शरीर से हिंसा करना नहीं, करवाना नहीं और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। बौद्ध और आजीवक परम्परा के श्रमणों ने भी इस नवकोटिक अहिंसा के आदर्श को स्वीकार कर उसके अर्थ को गहनता और व्यापकता प्रदान की। फिर भी बौद्ध परम्परा में षट्जीवनिकाय का विचार उपस्थित नहीं था। बौद्ध भिक्षु नदी-नालों के जल को छानकर उपयोग करते थे। दूसरे उनके यहाँ नवकोटि अहिंसा की यह अवधारणा भी स्वयं की अपेक्षा से थी—दूसरा हमारे निमित्त क्या करता है इसका विचार नहीं किया गया, जबकि जैन परम्परा में श्रमण के निमित्त से की जाने वाली हिंसा का भी विचार किया गया। निर्ग्रन्थ परम्परा का कहना था कि केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करें, न करावें और न उसे अनुमोदन दें अपितु यह भी आवश्यक है कि दूसरों को हमारे निमित्त हिंसा करने का अवसर भी नहीं देवें और उनके द्वारा की गई हिंसा में भागीदार न बनें। यही कारण था कि जहाँ बुद्ध और बौद्ध भिक्षु निमन्त्रित भोजन को स्वीकार करते थे वहाँ निर्ग्रन्थ परम्परा में औद्देशिक आहार भी अग्राह्य माना गया था, क्योंकि उसमें नैमत्तिक हिंसा के दोष की सम्भावना थी। यद्यपि पिटकग्रंथों में बौद्ध भिक्षु के लिए ऐसा भोजन निषिद्ध माना गया है, जिसमें उसके लिए प्राणिहिंसा की गई हो और वह इस बात को जानता हो या उसने ऐसा सुना हो। फिर भी यह अतिशयोक्ति नहीं है कि अहिंसा को जितना व्यापक अर्थ जैन परम्परा में दिया गया है, उतना अन्यत्र अनुपलब्ध ही है।

जैन-परम्परा में अहिंसा का अर्थविस्तार

संभवत: विश्व साहित्य में उपलब्ध प्राचीनतम जैन ग्रन्थ आचारांग ही ऐसा है, जिसमें अहिंसा को सर्वाधिक अर्थविस्तार दिया गया है। उसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस प्राणी के रूप में षट्जीवनिकाय के हिंसा का निषेध किया गया है। उसके प्रथम अध्याय का नाम ही शस्त्र-परिज्ञा है, जो अपने नाम के अनुरूप ही हिंसा के कारण और साधनों का विवेक कराता है। हिंसा-अहिंसा के विवेक के सम्बन्ध में षट्जीवनिकाय की अवधारणा आचारांग की अपनी विशेषता है जो कि परवर्ती सम्पूर्ण जैन साहित्य में स्वीकृत रही है। आचारांग में न केवल अहिंसा की अवधारणा को अर्थ-विस्तार दिया गया है अपितु उसे अधिक गहन और मनोवैज्ञानिक बनाने का भी प्रयत्न किया गया है।

आचारांग में धर्म की दो प्रमुख व्याख्यायें उपलब्ध हैं। प्रथम व्याख्या है—**सेमियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए** (१/८/३), आर्यजनों ने समता (समभाव) को धर्म कहा है। धर्म की दूसरी व्याख्या है—**सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा। एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए, समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए** (१/४१), किसी भी प्राणी, जीव और सत्व की हिंसा नहीं करना, यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है, जिसका उपदेश समस्त लोक की पीड़ा को जानकर दिया गया है। वस्तुत: धर्म की ये दो व्याख्याएँ दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। 'समभाव' के रूप में धर्म की परिभाषा समाज-निरपेक्ष वैयक्तिक धर्म की परिभाषा है, क्योंकि समभाव सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारे स्व-स्वभाव का परिचायक है। जबकि अहिंसा एक व्यावहारिक एवं समाज-सापेक्ष धर्म है, क्योंकि वह लोक की पीड़ा के निवारण के लिए है। अहिंसा समभाव की साधना की बाह्य अभिव्यक्ति है। समभाव अहिंसा का सारतत्त्व है और अहिंसा की आधार-भूमि है।

अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर भी स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वहां अहिंसा को आर्हत् प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है। सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जावे? सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है; वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुन: सभी को सुख अनुकूल और दु:ख प्रतिकूल है-**सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दु:खपडिकूला,** (१/२/३)। अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। यद्यपि मैकेंजी ने अपने ग्रन्थ Hindu Ethics में अहिंसा का आधार 'भय' को माना है किन्तु उसकी यह धारणा गलत है क्योंकि भय के सिद्धांत को यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का आधार बनाया जावेगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होगा उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी। जबकि आचारांग तो सभी प्राणियों के प्रति यहाँ तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात कहता है। अत: आचारांग में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुन: इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ ही उसमें अहिंसा को तुल्यता बोध का बौद्धिक आधार भी दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि **'जो अज्झत्थं जाणई से बहिया जाणई एयं तुल्लमन्नसिं'**,(१/१/७)जो अपनी पीड़ा को जान पाता है, वही तुल्यता-बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है। प्राणीय पीड़ा की तुल्यता के बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धान्त को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास में यहां तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है वह तू ही है (आचारांग, १/५/५)। आगे वह कहता है कि जो लोक का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का अपलाप करता है (आचारांग, १/१/३)। अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन दर्शन के आत्मा संबंधी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता प्रतीत होता है क्योंकि यहां वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असम्भव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति पर-बुद्धि है, परायेपन का भाव है तब तक हिंसा की संभावनायें उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिए हिंसा तभी असंभव हो सकती है जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व या आत्मीय-दृष्टि जागृत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की वैयक्तिकता की धारणा का भी अतिक्रमण कर उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण के प्रयास में भी सूत्रकार ने एक स्थान पर जिस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है वह यह है कि हिंसा से हिंसा का और घृणा से घृणा का निराकरण संभव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है, शस्त्रों के आधार पर अभय और हिंसा के आधार पर शान्ति की स्थापना संभव नहीं है क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा संभव है, शान्ति की स्थापना तो निर्वैरता या प्रेम के द्वारा ही संभव है क्योंकि अशस्त्र से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है (आचारांग, १/३/४)।

आचारांग और सूत्रकृतांग में श्रमण-साधक के लिए जिस जीवनचर्या का विधान है उसे देखकर हम सहज ही यह कह सकते हैं कि वहां जीवन में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने का एक प्रयत्न अवश्य हुआ है। किन्तु उनमें अहिंसक मुनि जीवन का, जो आदर्शचित्र उपस्थित किया गया है, वह अहिंसा के निषेधात्मक पहलू को ही प्रकट करता है। अहिंसा के विधायक पहलू की वहां कोई चर्चा नहीं है। यद्यपि आचारांग में यह स्पष्टरूप से कहा गया है कि इस शुद्ध, नित्य और शाश्वत अहिंसाधर्म का प्रवर्तन लोक की पीड़ा को जानकर ही किया गया है फिर भी तीर्थंकरों की यह असीम करुणा विधायक बनकर बह रही हो ऐसा प्रतीत नहीं होता है। आचारांग और सूत्रकृतांग में पूर्ण अहिंसा का यह आदर्शन निषेधात्मक ही रहा है।

यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर यही है कि अहिंसा को विधायकरूप देने का कोई भी प्रयास हिंसा के बिना सम्भव नहीं होगा; जब भी हम जीवन-रक्षण (दया), दान, सेवा से और सहयोग की कोई क्रिया करेंगे तो निश्चित ही वह बिना हिंसा के सम्भव नहीं होगी। नव-कोटिपूर्ण अहिंसा का आदर्श कभी भी जीवन-रक्षण, दान, सेवा और सहयोग के मूल्यों का सहगामी नहीं हो सकता। यही कारण था कि आचरांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के दूसरे अध्याय के ५ वें उद्देशक में मुनि के लिए चिकित्सा करने और करवाने का भी निषेध कर दिया गया। सत्य तो यह है कि जीवन-रक्षण और पूर्ण अहिंसा के आदर्श का परिपालन एक साथ सम्भव नहीं है। पुन: सामुदायिक और पारिवारिक जीवन में तो उसका परिपालन अशक्य ही है। हम देखते हैं कि अहिंसक जीवन जीने के लिए जिस आदर्श की कल्पना आचारांग में की गई थी उससे जैन परम्परा को भी नीचे उतरना पड़ा है। आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध में ही अहिंसक मुनि-जीवन में कुछ अपवाद स्वीकार कर लिये हैं, जैसे—नौकागमन, गिरने की सम्भावना होने पर लता-वृक्ष आदि का सहारा लेकर उतरना आदि। इसी प्रसंग में हिंसा-अहिंसा विवेक के सम्बन्ध में अल्प-बहुत्व का विचार सामने आया। जब हिंसा अपरिहार्य ही बन गई हो तो बहु-हिंसा की अपेक्षा अल्प-हिंसा को चुनना ही उचित माना गया। सूत्रकृतांग के आर्द्रक नामक अध्याय में हस्ति-तापसों की चर्चा है। ये हस्तितापस यह मानते थे कि आहार के लिए अनेक वानस्पतिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने की अपेक्षा एक महाकाय हाथी को मार लेना अल्प हिंसा है और इस प्रकार वे अपने को अधिक अहिंसक सिद्ध करते थे। जैन परम्परा ने इसे अनुपयुक्त बताया और कहा कि हिंसा-अहिंसा के विवेक में कितने प्राणियों की हिंसा हुई इस विचार से काम नहीं चलेगा, अपितु किस प्राणी की हिंसा हुई यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। भगवतीसूत्र में इसी प्रश्न को लेकर यह कहा गया है कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस-जीव की और त्रस जीवों में पंचेन्द्रिय की, पंचेन्द्रियों में मनुष्य की और मनुष्य में ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट है, मात्र यही नहीं, जहाँ त्रस जीव की हिंसा करने वाला अनेक जीवों की हिंसा का भागी होता है, वहाँ ऋषि की हिंसा करने वाला अनन्त जीवों की हिंसा का भागी होता है। अत: हिंसा-अहिंसा के विवेक में संख्या का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्राणी की ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक क्षमता का विकास। यह मान्यता कि सभी आत्माएँ समान हैं, अत: सभी हिंसाएँ समान हैं, समुचित नहीं है। कुछ परम्पराओं ने सभी प्राणियों की हिंसा को समान स्तर का मानकर अहिंसा के विधायक पक्ष का जो निषेध कर दिया वह तर्कसंगत नहीं है। उसके पीछे भ्रांति यह है कि हिंसा का सम्बन्ध आत्मा से जोड़ दिया गया है। हिंसा आत्मा की नहीं प्राणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की होती है। अत: जिन प्राणियों की प्राणसंख्या अर्थात् जैविक शक्ति अधिक विकसित है, उनकी हिंसा अधिक निकृष्ट है। पुन: हिंसा में स्तर भेद स्वीकार करके ही अहिंसा को विधायक रूप दिया जा सकता है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में यह प्रश्न इसलिए भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया कि इसका सीधा सम्बन्ध मांसाहार और शाकाहार के प्रश्न से जुड़ा हुआ था। यदि हम शाकाहार का समर्थन करना चाहते हैं तो हमें यह मानना होगा कि हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में संख्या का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है उसका ऐन्द्रिक और आध्यात्मिक विकास। मात्र यही नहीं, सूत्रकृतांग में अल्प आरम्भ (अल्पहिंसा) युक्त गृहस्थ धर्म को भी एकान्त सम्यक् कहकर हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को एक दूसरी ही दिशा प्रदान की गई। अहिंसा का सम्बन्ध बाहर की अपेक्षा अन्दर से जोड़ा जाने लगा। हिंसा-अहिंसा के विवेक में बाह्य घटना की अपेक्षा साधक की मनोदशा को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। यद्यपि सूत्रकृतांग के आर्द्रक नामक अध्याय में बौद्ध धर्म की इस धारणा की आलोचना की गई है कि 'हिंसा-अहिंसा का प्रश्न व्यक्ति की मनोदशा के साथ जुड़ा हुआ, है न कि बाह्य घटना पर।' किन्तु हम देखते हैं कि जैन परम्परा के परवर्ती ग्रंथों में मनोदशा को ही हिंसा-अहिंसा के विवेक का आधार बनाया गया है। जहाँ द्रव्य-हिंसा (बाह्य घटना) और भाव-हिंसा (मनोदशा) का प्रश्न सामने आया वहाँ यह माना जाने लगा कि भाव हिंसा ही वास्तविक हिंसा है। भगवती (७/१/६-७), प्रवचनसार (३/१७), ओघनिर्युक्ति (७४८-७५८), निशीथचूर्णि (९२) आदि ग्रन्थों में एक स्वर से यह बात स्वीकार की गई है कि जो अप्रमत्त और कषायरहित है, उसके द्वारा बाह्य रूप से होनेवाली हिंसा वस्तुत: हिंसा नहीं है। यह भी माना गया कि जिस हिंसा में हिंसा करते हुए जितनी मनोभावों की क्रूरता अपेक्षित है वह हिंसा उतनी निकृष्ट कोटि की है। वनस्पति की हिंसा की अपेक्षा पशु की हिंसा में और पशु की हिंसा की अपेक्षा मनुष्य की हिंसा में अधिक क्रूरता अपेक्षित है। अत: हिंसक भावों या कषायों की तीव्रता के कारण मनुष्य की हिंसा अधिक निकृष्ट कोटि की होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंसा-अहिंसा का विवेक रखते समय बाह्य घटना पर ही नहीं वरन् कर्ता की मनोवृत्ति पर भी विचार करना होता है।

अहिंसा के बाह्य-पक्ष की अवहेलना उचित नहीं

यह ठीक है कि हिंसा-अहिंसा के विचार में भावात्मक या आन्तरिक पहलू महत्त्वपूर्ण है किन्तु बाह्य पक्ष को अवहेलना उचित नहीं है। वैयक्तिक साधनाकी दृष्टि से आध्यात्मिक एवं आन्तरिक पक्ष ही सर्वाधिक मूल्यवान् होता है। लेकिन जहाँ सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है वहाँ हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पहलू को झुठलाया नहीं जा सकता। क्योंकि व्यावहारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से जिस पर विचार किया जा सकता है वह तो आचरण का बाह्य-पक्ष ही है।

गीता और बौद्ध आचार दर्शन की अपेक्षा जैन विचारणा ने इस बाह्य पक्ष पर गहनतापूर्वक विचार किया है। वह यह मानती है कि किन्हीं अपवादात्मक अवस्थाओं को छोड़कर सामान्यतया जो विचार में है, जो आन्तरिक है, वही व्यवहार में प्रकट होता है। अन्तरंग और बाह्य अथवा विचार और आचार के सम्बन्ध में द्वैत-दृष्टि उसे स्वीकार्य नहीं है। उसकी दृष्टि में अन्त: में अहिंसकवृत्ति के होते हुए बाह्य रूप में हिंसक आचारण कर पाना एक प्रकार की भ्रांति है, छलन है, आत्मा-प्रवंचना है। सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है कि 'यदि हृदय पापमुक्त हो तो (हिंसादि) क्रिया करने पर भी निर्वाण अवश्य मिलता है' यह एक मिथ्या धारणा है। यदि गीता का यह मन्तव्य हो कि अन्त: में अहिंसक वृत्ति के होते हुए भी हिंसात्मक क्रिया की जा सकती है तो जैन विचारणा का स्पष्ट रूप से उसके साथ विरोध है। जैन विचारणा कहती है कि अन्त: में अहिंसक वृत्ति के होते हुए हिंसा की नहीं जा सकती, यद्यपि हिंसा हो सकती है। हिंसा किया जाना सदैव ही संकल्पात्मक होगा और आन्तरिक विशुद्धि के होते हुए हिंसात्मक कर्म का संकल्प सम्भव ही नहीं है (सूत्रकृतांग, २/६/३५)।

वस्तुत: हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में जैन दृष्टि का सार यह है कि हिंसा चाहे बाह्य हो या आन्तरिक, वह आचारण का नियम नहीं हो सकती है। दूसरे, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पक्ष की अवहेलना मात्र कतिपय अपवादात्मक अवस्थाओं में ही क्षम्य हो सकती है। हिंसा का हेतु मानसिक प्रवृत्तियां, कषायें हैं, यह मानना तो ठीक है, लेकिन यह मानना कि मानसिक-वृत्तियों या कषायों के अभाव में की गई द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है, यह उचित नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि संकल्पजन्य हिंसा अधिक निकृष्ट है, लेकिन संकल्प के अभाव में होने वाली हिंसा हिंसा नहीं है या उससे कर्म-आस्रव नहीं होता है, यह जैन कर्म सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। व्यावहारिक जीवन में हमें इसको हिंसा मानना होगा।

पूर्ण अहिंसा के आदर्श की संभावना का प्रश्न

यद्यपि अन्त: और बाह्य रूप से पूर्ण अहिंसा के आदर्श की उपलब्धि जैन विचारणा का साध्य है, लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में इस आदर्श की उपलब्धि सहज नहीं है। अहिंसा एक आध्यात्मिक आदर्श है और आध्यात्मिक स्तर पर ही इसकी पूर्ण उपलब्धि सम्भव है लेकिन व्यक्ति का वर्तमान जीवन अध्यात्म और भौतिकता का एक सम्मिश्रण है। जीवन के आध्यात्मिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा सम्भव है लेकिन भौतिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा की कल्पना समीचीन नहीं है। अहिंसक जीवन की सम्भावनाएं भौतिक स्तर से ऊपर उठने पर विकसित होती हैं— व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिकता के स्तर से ऊपर उठता जाता है, अहिंसक जीवन की पूर्णता की दिशा में बढ़ता जाता है। इसी आधार पर जैन विचारणा में अहिंसा की दिशा में बढ़ने के लिए कुछ स्तर निर्धारित किये गये हैं।

हिंसा का यह रूप जिसे संकल्पजा हिंसा कहा जाता है, सभी के लिये त्याज्य है। संकल्पजा हिंसा हमारे वैचारिक या मानसिक जगत् पर निर्भर है। मानसिक संकल्प के कर्त्ता के रूप में व्यक्ति में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वतन्त्रता की सम्भावनाएं सर्वाधिक विकसित हैं। अपने मानसिक जगत् के क्षेत्र में व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र है। इस स्तर पर पूरी तरह से अहिंसा का पालन अधिक सहज एवं सम्भव है। बाह्य स्थितियां इस स्तर पर हमें प्रभावित कर सकती हैं, लेकिन शासित नहीं कर सकती। व्यक्ति स्वयं अपने विचारों का स्वामी होता है, अत: इस स्तर पर अहिंसक होना सभी के लिए आवश्यक है। व्यावहारिक दृष्टि से संकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है। यह न तो जीवन के रक्षण के लिए है और न जीवन-निर्वाह के लिए है, अत: इसे सभी के द्वारा छोड़ा जा सकता है।

हिंसा का दूसरा रूप विरोधजा है। यह प्रत्याक्रमण या सुरक्षात्मक है। स्व एवं पर के जीवन एवं स्वत्वों के रक्षण के लिए इसे करना पड़ता है। इसमें बाह्य परिस्थितिगत तत्त्वों का प्रभाव प्रमुख होता है। बाह्य स्थितियां व्यक्ति को बाध्य करती हैं कि वह अपने एवं अपने साथियों के जीवन एवं स्वत्वों के रक्षण के लिए प्रत्याक्रमण के रूप में हिंसा करे। जो भी व्यक्ति शरीर एवं अन्य भौतिक संस्थानों पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं, अथवा जो भी अपने और अपने साथियों के अधिकारों में आस्था रखते हैं, इस विरोधजा हिंसा को छोड़ने में असमर्थ हैं। गृहस्थ उपासक हिंसा के इस रूप को पूरी तरह छोड़ पाने में असमर्थ होते हैं क्योंकि वे शरीर एवं अन्य भौतिक वस्तुओं पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं। इसी प्रकार शासक वर्ग एवं राजनैतिक नेता जो मानवीय अधिकारों में एवं राष्ट्रीय हितों में आस्था रखते हैं, इसे पूरी तरह छोड़ पाने में असमर्थ हैं।

आधुनिक युग में गांधी एक ऐसे विचारक अवश्य हैं, जिन्होंने विरोध का अहिंसक तरीका प्रस्तुत किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की। किन्तु अहिंसक के रूप में विरोध कर पाना, उसमें सफलता प्राप्त कर लेना हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। अहिंसक रीति से अधिकारों का संरक्षण करने में वही व्यक्ति सफल हो सकता है जिसे शरीर के प्रति मोह न हो, पदार्थों में आसक्ति न हो और जिसके हृदय में विद्वेष का भाव न हो। यही नहीं, अहिंसक रीति से अधिकारों के संरक्षण की कल्पना एक सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव समाज में ही सम्भव हो सकती है। यदि विरोधी पक्ष मानवीय स्तर पर हो, तब तो अहिंसक-विरोध सफल हो जाता है, लेकिन यदि विरोधी पक्ष पाशविक स्तर पर हो तो अहिंसक विरोध की सफलता सन्देहास्पद बन जाती है। पुन: मानव में मानवीय गुणों की सम्भावना की आस्था ही अहिंसक विरोध का केन्द्रीय तत्त्व है। मानवीय गुणों में हमारी आस्था जितनी बलशाली होगी और विरोधी में मानवीय गुणों का जितना अधिक प्रकटन होगा, अहिंसक-विरोध की सफलता भी उतनी ही अधिक होगी।

जहां तक उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा का प्रश्न है, एक गृहस्थ उपासक उससे नहीं बच सकता क्योंकि जब तक शरीर और सम्पत्ति का मोह है, आजीविका का अर्जन और शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति दोनों ही आवश्यक हैं। इस स्तर पर हिंसा को त्रस प्राणियों की हिंसा और स्थावर प्राणियों की हिंसा, इन दो भागों में बांटा जा सकता है और व्यक्ति अपने को त्रस प्राणियों की हिंसा से बचा सकता है। जैन विचारणा में गृहस्थ उपासक के लिए उद्योग, व्यवसाय एवं जीवन-रक्षण के लिए भी त्रस प्राणियों की हिंसा का निषेध किया गया है।

लेकिन जब व्यक्ति शरीर और सम्पत्ति के मोह से ऊपर उठ जाता है तो वह पूर्ण अहिंसा की दिशा में और आगे बढ़ जाता है। जहां तक श्रमण साधक या संन्यासी का प्रश्न है, वह निष्परिग्रही होता है, उसे अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं होता अत: वह सर्वतोभावेन हिंसा के विरत होने का व्रत लेता है। शरीरधारण मात्र के लिए कुछ अपवादों को छोड़कर वह संकल्पपूर्वक और विवशतावश दोनों ही परिस्थितियों में त्रस और स्थावर की हिंसा से पूर्ण विरत हो जाता है। मुनि नथमलजी के शब्दों में 'कोई भी व्यक्ति एक ही डग में चोटी तक नहीं पहुँच सकता। वह धीमे-धीमे आगे बढ़ता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा की पहुँच के कुछ स्तर निर्धारित किये हैं। वे वस्तुस्थिति पर आधारित हैं। उन्होंने हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया—(१) संकल्पजा, (२) विरोधजा और (३) आरम्भजा। संकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है। वह सबके लिए सर्वथा परिहार्य है। विरोधजा हिंसा प्रत्याक्रमण हिंसा है। उसे छोड़ने में वह असमर्थ होता है, जो भौतिक संस्थानों पर अपना अस्तित्व रखना चाहता है। आरम्भजा हिंसा आजीविकात्मक हिंसा है। उसे छोड़ने में वे सब असमर्थ होते हैं, जो भौतिक साधनों के अर्जन-संरक्षण द्वारा अपना जीवन चलाना चाहते हैं (तट दो, प्रवाह एक, पृष्ठ ४०)।

प्रथम स्तर पर हम आसक्ति, तृष्णा आदि के वशीभूत होकर की जानेवाली अनावश्यक आक्रमणात्मक हिंसा से बचें; फिर दूसरे स्तर पर जीवनयापन एवं आजीविकोपार्जन के निमित्त होने वाली त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होवें; तीसरे स्तर पर विरोध के अहिंसक तरीके को अपना कर प्रत्याक्रमणात्मक हिंसा से विरत होवें। इस प्रकार जीवन के लिये आवश्यक बनी हुई हिंसा से क्रमश: ऊपर उठते हुए चौथे स्तर पर शरीर और परिग्रह की आसक्ति का परित्याग कर सर्वतोभावेन पूर्ण अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ें।

इस प्रकार पूर्ण अहिंसा का आदर्श पूर्णतया अव्यावहारिक नहीं रहता है। व्यक्ति जैसे-जैसे सम्पत्ति और शरीर के मोह से ऊपर उठता जाता है अहिंसा का आदर्श उसके लिए व्यवहार्य बनता जाता है। पूर्ण अनासक्त जीवन में पूर्ण अहिंसा व्यवहार्य बन जाती है। यद्यपि यह ध्यान रखना होगा कि शरीरधारी रहते हुए पूर्ण अहिंसा एक आदर्श ही रहेगी, वह यथार्थ नहीं बन पावेगी। जब शरीर के संरक्षण का मोह समाप्त होगा तभी वह आदर्श यथार्थ की भूमि पर अवतरित होगा। फिर भी एक बात ध्यान में रखनी होगी, वह यह कि जब तक शरीर है और शरीर के संरक्षण की वृत्ति है, चाहे वह साधना के लिए ही क्यों न हो, यह कथमपि सम्भव नहीं है कि व्यक्ति पूर्ण अहिंसा के आदर्श को पूर्णरूपेण साकार कर सके। शरीर के लिए आहार आवश्यक है, कोई भी आहार बिना हिंसा के सम्भव नहीं होगा। चाहे हमारा मुनिवर्ग यह कहता भी हो कि हम औद्देशिक आहार नहीं लेते हैं किंतु क्या उनकी विहार-यात्रा में साथ चलने वाला पूरा लवाजिमा, सेवा में रहने के नाम पर लगने वाले चौके औद्देशिक नहीं? जब समाज में रात्रिभोजन सामान्य हो गया हो, क्या सन्ध्याकालीन गोचरी में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनौद्देशिक आहार मिल पाना सम्भव है? क्या कश्मीर से कन्याकुमारी तक और बम्बई से कलकत्ता तक की सारी यात्राएँ औद्देशिक आहार के अभाव में निर्विघ्न सम्भव हो सकती हैं? क्या आर्हत प्रवचन की प्रभावना के लिए मंदिरों का निर्माण, पूजा और प्रतिष्ठा के समारोह, संस्थाओं का संचालन, मुनिजनों के स्वागत और विदाई-समारोह तथा अधिवेशन षट्निकाय की नवकोटि युक्त अहिंसा के परिपालन के साथ कोई संगति रख सकते हैं? हमें अपनी अन्तरात्मा से यह सब पूछना होगा। हो सकता है कि कुछ विरल सन्त और साधक हों जो इन कसौटियों पर खरे उतरते हों, मैं उनकी बात नहीं कहता, वे शतशः वन्दनीय हैं, किन्तु सामान्य स्थिति क्या है? फिर भिक्षाचर्या, पाद-विहार, शरीर-संचालन, श्वासोच्छ्वास किसमें हिंसा नहीं है। महाभारत के शान्ति-पर्व में कहा गया हैं, जल में जीव हैं, पृथ्वी पर और वृक्षों के फलों में अनेक जीव हैं, ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो इन्हें नहीं मारता हो, पुनः कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं जो इन्द्रियों से नहीं, अनुमान से जाने जाते हैं, मनुष्य की पलकों के झपकने मात्र से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं। अतः जीव-हिंसा से बचा नहीं जा सकता (१५/२५-२६)। एक ओर षट्जीवनिकाय की अवधारणा और दूसरी ओर पूर्ण नवकोटियुक्त पूर्ण अहिंसा का आदर्श, जीवित रहकर इन दोनों में संगति बिठा पाना अशक्य है। अतः जैन आचार्यों को भी यह कहना पड़ा कि 'अनेकानेक जीव-समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तः में आध्यात्मिक विशुद्धि की दृष्टि से ही है' (ओघनिर्युक्ति, ७४७)। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम अहिंसा को अव्यवहार्य मानकर तिलांजलि दे देवें। यद्यपि एक शरीरधारी के नाते यह हमारी विवशता है कि हम द्रव्य और भाव दोनों अपेक्षा से पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध नहीं कर सकते हैं किन्तु उस दिशा में क्रमशः आगे बढ़ सकते हैं और जीवन की पूर्णता के साथ ही पूर्ण अहिंसा के आदर्श को भी उपलब्ध कर सकते हैं। कम से कम हिंसा की दिशा में आगे बढ़ते हुए साधक के लिए जीवन का अन्तिम क्षण अवश्य ही ऐसा है, जब वह पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर सकता है। जैनधर्म की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो पादोपगमन संथारा एवं चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान की अवस्थाएं ऐसी हैं जिनमें पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार हो जाता है।

पुनः अहिंसा की सम्भावना पर हमें न केवल वैयक्तिक दृष्टि से विचार करना है अपितु सामाजिक दृष्टि से भी विचार करना है। चाहे यह सम्भव भी हो, व्यक्ति शरीर, सम्पत्ति, संघ और समाज से निरपेक्ष होकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध कर सकता है; फिर भी ऐसी निरपेक्षता किन्हीं विरल साधकों के लिए ही सम्भव होगी, सर्व सामान्य के लिए तो सम्भव नहीं कही जा सकती है। अतः मूल प्रश्न यह है कि क्या सामाजिक जीवन पूर्ण अहिंसा के आदर्श पर खड़ा किया जा सकता है? क्या पूर्ण अहिंसक समाज की रचना सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व मैं आपसे समाज-रचना के स्वरूप पर कुछ बातें कहना चाहूँगा। एक तो यह कि अहिंसक-चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में समाज की कल्पना ही सम्भव नहीं है। समाज जब भी खड़ा होता है आत्मीयता, प्रेम और सहयोग के आधार पर खड़ा होता है अर्थात् अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। क्योंकि हिंसा का अर्थ है—घृणा, विद्वेष, आक्रामकता; और जहाँ भी ये वृत्तियाँ बलवती होंगी सामाजिकता की भावना ही समाप्त हो जावेगी, समाज ढह जावेगा। अतः समाज और अहिंसा सहगामी हैं। दूसरे शब्दों में यदि हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि अहिंसा उसके लिए स्वाभाविक ही है। जब भी कोई समाज खड़ा होगा और टिकेगा तो वह अहिंसा की भित्ति पर ही खड़ा होगा और टिकेगा। किंतु एक दूसरा पहलू भी है, वह यह कि समाज के लिए भी अपने अस्तित्व और अपने सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहाँ अस्तित्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न है, वहाँ हिंसा अपरिहार्य है। हितों में टकराव स्वाभाविक है, अनेक बार तो एक का हित दूसरे के अहित पर, एक का अस्तित्व दूसरे के विनाश पर खड़ा होता है, ऐसी स्थिति में समाज-जीवन में भी हिंसा अपरिहार्य होगी। पुनः समाज का हित और सदस्य-व्यक्ति का हित भी परस्पर विरोध में हो सकता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितों के संघर्ष की स्थिति हो तो बहुजन हितार्थ हिंसा अपरिहार्य भी हो सकती है। जब समाज या राष्ट्र का कोई सदस्य या वर्ग अथवा दूसरा राष्ट्र अपने हितों के लिये हिंसा पर अथवा अन्याय पर उतारू हो जावे तो निश्चय ही अहिंसा की दुहाई देने से काम न चलेगा। जब तक जैन आचार्यों द्वारा उद्घोषित 'मानव जाति एक है' की कल्पना साकार नहीं हो पाती, जब तक सम्पूर्ण मानव समाज ईमानदारी के साथ अहिंसा के पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता, तब तक अहिंसक समाज की बात कहना कपोल-कल्पना ही कहा जावेगा। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि जैनागम जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं उसमें भी जब संघ की या संघ के किसी सदस्य की सुरक्षा या न्याय का प्रश्न आया तो हिंसा को स्वीकार करना पड़ा। गणाधिपति चेटक और आचार्य कालक के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। यही नहीं, निशीथचूर्णि में तो यहाँ तक स्वीकार कर लिया गया है कि संघ की सुरक्षा के लिए मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसे प्रसंगों में पशु-हिंसा तो क्या मनुष्य की हिंसा भी उचित मान ली गई है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक प्रवृत्तियों में आस्था रखता है यह सोचना व्यर्थ ही है कि सामुदायिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। निशीथचूर्णि में अहिंसा के अपवादों को लेकर जो कुछ कहा गया है, उसे चाहे कुछ लोग साध्वाचार के रूप में सीधे मान्य करना न चाहते हों; किंतु क्या यह नपुंसकता नहीं होगी जब किसी मुनि संघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे अहिंसा की दुहाई देते हुए मौन दर्शक बने रहें? क्या उनका कोई दायित्व नहीं है? यह बात चाहे हास्यास्पद लगती हो कि अहिंसा की रक्षा के लए हिंसा आवश्यक है किन्तु व्यावहारिक जीवन में अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जिनमें अहिंसक-संस्कृति की रक्षा के लिए हिंसकवृत्ति अपनाना पड़े। यदि हिंसा में आस्था रखनेवाला कोई समाज किसी अहिंसक समाज को पूरी तरह मिटा देने को तत्पर हो जावे, तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या उस अहिंसक समाज को अपने अस्तित्व के लिए कोई संघर्ष नहीं करना चाहिये? हिंसा-अहिंसा का प्रश्न अब निरा वैयक्तिक प्रश्न नहीं है। जब तक सम्पूर्ण मानव समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर नहीं होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा की जानेवाली अहिंसा के आदर्श की बात कोई अर्थ नहीं रखती है। संरक्षणात्मक और सुरक्षात्मक हिंसा समाजजीवन के लिए अपरिहार्य है। समाज-जीवन में इसे मान्य भी करना ही होगा। इसी प्रकार उद्योग-व्यवसाय और कृषि कार्यों में होनेवाली हिंसा भी समाज-जीवन में बनी ही रहेगी। मानव समाज में मांसाहार एवं तज्जन्य हिंसा को समाप्त करने की दिशा में सोचा तो जा सकता है किन्तु उसके लिये कृषि के क्षेत्र में एवं अहिंसक आहार की प्रचुर उपलब्धि के सम्बन्ध में व्यापक अनुसंधान एवं तकनीकी विकास की आवश्यकता होगी। यद्यपि हमें यह समझ लेना होगा कि जब तक मनुष्य की संवेदनशीलता को पशुजगत् तक विकसित नहीं किया जावेगा और मानवीय आहार को सात्विक नहीं बनाया जावेगा, मनुष्य की आपराधिक प्रवृत्तियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं होगा। आदर्श अहिंसक समाज की रचना हेतु हमें समाज से आपराधिक प्रवृत्तियों को समाप्त करना होगा और आपराधिक प्रवृत्तियों के नियमन के लिए हमें मानव जाति में संवेदनशीलता, संयम एवं विवेक के तत्त्वों को विकसित करना होगा।

हिंसा और अहिंसा का सीमा-क्षेत्र

हिंसा और अहिंसा के सीमा-क्षेत्र को समझने के लिए हमें हिंसा के तीन रूपों को समझ लेना होगा—१. हिंसा की जाती है, २. हिंसा करनी पड़ती है और ३. हिंसा हो जाती है। हिंसा का वह रूप जिसमें हिंसा की नहीं जाती वरन् हो जाती है—हिंसा की कोटि में नहीं आता है, क्योंकि इसमें हिंसा का संकल्प पूरी तरह अनुपस्थित रहता है; मात्र यही नहीं, हिंसा से बचने की पूरी सावधानी भी रखी जाती हैं, हिंसा के संकल्प के अभाव में एवं सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी यदि हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा के सीमाक्षेत्र में नहीं आती हैं। हमें यह भी समझ लेना होगा कि किसी एक संकल्प की पूर्ति के लिए की जानेवाली क्रिया के दौरान सावधानी के बावजूद अन्य कोई हिंसा की घटना घटित हो जाती है, जैसे—गृहस्थ उपासक द्वारा भूमि जोतते हुए किसी त्रस-प्राणी की हिंसा हो जाना अथवा किसी मुनि के द्वारा पदयात्रा करते हुए त्रसप्राणी की हिंसा हो जाना, तो उन्हें उस हिंसा के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उनके मन में उस हिंसा का कोई संकल्प ही नहीं है। अत: ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है। जैन परम्परा में हिंसा के निम्न चार स्तर माने गये हैं—१. संकल्पजा, २. विरोधजा, ३. उद्योगजा, ४. आरम्भजा। इनमें 'संकल्पजा' हिंसा वह है जो की जाती है, जबकि विरोधजा, उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा, हिंसा की वे स्थितियां हैं जिनमें हिंसा करनी पड़ती है। फिर भी चाहे हिंसा की जाती हो या हिंसा करनी पड़ती हो दोनों ही अवस्थाओं में हिंसा का संकल्प या इरादा अवश्य होता है, यह बात अलग है कि एक अवस्था में हम बिना किसी परिस्थितिगत दबाव के स्वतंत्ररूप में हिंसा का संकल्प करते हैं और दूसरे में हमें विवशता में संकल्प करना होता है। फिर भी पहली अधिक निकृष्ट कोटि की है क्योंकि आक्रमणात्मक हैं। यह अनर्थदण्ड है, अर्थात् अनावश्यक है, वह या तो मनोरंजन के लिए की जाती है या शासन करने के लिए, या स्वाद के लिए। हिंसा का यही रूप ऐसा है जो सबके द्वारा छोड़ा जा सकता है, क्योंकि यह हमारे जीवन जीने के लिए जरूरी नहीं है। हिंसा का दूसरा रूप जिसमें हिंसा करनी पड़ती है, हिंसा तो है किन्तु इसे छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक है, अर्थदण्ड है। जैसा कि हमने अहिंसा की सम्भावना के प्रसंग में देखा था। वे सभी गृहस्थ उपासक जो अपने स्वत्वों का रक्षण करना चाहते हैं, जो जीवन जीने के लिए उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए हैं, जो समाज, संस्कृति और राष्ट्र की सुरक्षा एवं विकास का दायित्व लिये हुए हैं, इससे नहीं बच सकते। न केवल गृहस्थ उपासक अपितु मुनिजन भी, जो किसी धर्म, समाज एवं संस्कृति के रक्षण, विकास एवं प्रसार का दायित्व अपने ऊपर लिये हुए हैं, इस प्रकार की अपरिहार्य हिंसा से नहीं बच सकते हैं।

फिर भी यह आवश्यक है कि हम ऐसी हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहें, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जावेगा। विवशता में चाहे हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे, अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जावेगी, जैसे-कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध करेंगे, साथ ही वह हमारी अहिंसा विधायक बन कर मानव समाज में सेवा और सहयोग की गंगा भी बहा सकेगी।

साथ ही जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी, यह निर्णय देश, काल परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आंकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है—१. प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और २. उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यत: मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान् है और मनुष्यों में भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान् हो सकता है। सम्भवत: हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चीटियों के प्रति तो संवेदन-शील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को माड़ना है और मानवता के प्रति अहिंसा को सकारात्मक बनाना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org